

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में स्त्री-चरित्र

डॉ० रेखा पतसारिया,

एसोसियट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,

हिन्दी विभाग,

आगरा कॉलेज, आगरा

शोधसार

सदा से स्त्री समाज, संस्कृति और साहित्य की एक महत्वपूर्ण इकाई मानी जाती रही है। हमारी पुरुष सत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था में स्त्री का जीवन पुरुष की इच्छा और अधिकार पर निर्भर रहा है, परन्तु अब संभवतः स्थितियाँ बदल रही हैं। हिन्दी नाटकों में स्त्री चरित्रों में बदलाव की दिशा बीसवीं सदी के मध्य से ही तलाशी जाने लगी थी। वर्तमान तक आते-आते यह परिवर्तन स्पष्ट रूप से देखा जाने लगा, परन्तु यही सच है कि साहित्यकार स्त्री चरित्र को लेकर सदैव असमंजस की स्थिति में दिखाई पड़ता रहा है। एक अतिवाद से दूसरे अतिवाद तक स्त्री चरित्र के विविध रूप हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं के साथ-साथ हिन्दी नाटक में भी देखने को मिलते रहे हैं।

की वर्ड – पुरुष-सत्तात्मक सामाजिक-व्यवस्था, स्त्री-चरित्र, अतिवाद

बीसवीं सदी के मध्य से ही लगभग आजादी के साथ-साथ भारतीय समाज में अनेक बदलाव देखे जाने लगे थे और यही बदलाव हिन्दी साहित्य में भी स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। मानव समाज के विविध पक्षों पर साहित्यकार की सोच बदलने लगी थी। समाज शास्त्रीय दृष्टि से बीसवीं सदी की सबसे महत्वपूर्ण बात नारी-जागरण के रूप में देखी जा सकती है, परन्तु यह भी सच है कि स्त्री के विद्रोही स्वर के साथ-साथ उसकी दर्द भरी चीत्कार भी हमें इस समाज में सुनने को मिलती रही है। उसके विद्रोही तेवरों के साथ उसका सिसकता, खामोश रूप, दोनों समाज में साथ-साथ देखे जा सकते हैं। यही अलग-अलग रूपों में जीने वाला स्त्री-चरित्र हम आधुनिक नाटकों में देख सकते हैं – “आज स्त्री की वास्तविक स्थिति चरम गुलामी और परम आजादी के दो अतिवादों के बीच न जाने कितने रूपों, धरातलों और स्तरों पर एक साथ मौजूद है। जहां तक आधुनिक भारतीय समाज और साहित्य-विशेषतः रंगकर्म का सवाल है – स्त्री की स्थिति काफी जटिल और पेचीदा है।”¹

हमारी सामाजिक व्यवस्था ने स्त्री को नैतिकता और सामाजिक मर्यादा के नाम पर सदैव ठगा है और स्त्री की ईश्वर प्रदत्त प्रकृति ने ही उसे इस दमन और शोषण का शिकार होने के लिये मजबूर किया है, पर समय-समय पर माँ, बहन, बेटी और पत्नी, प्रेयसी जैसे किरदारों से बाहर निकल कर उसका औरत होना और औरत से भी अधिक एक इन्सान होना, स्त्री को विद्रोही होने के लिये उकसाता रहा है। यह बदलाव जयशंकर प्रसाद के नाटकों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता था और संभवतः उससे पूर्व द्विवेदी युगीन नाटकों में भी स्त्री के दोनों रूपों को देखा गया था।

आज के समय में अन्य विमर्शों के साथ जो एक विमर्श सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो रहा है, वह है – स्त्री विमर्श। “समकालीन हिन्दी नाटक का एक और विशेष अंदाज है – स्वच्छन्द आदिम प्रवृत्ति, उन्मुक्त जीने की लालसा, सम्पूर्ण नियम-बन्धनों को तोड़कर नए सम्पर्कों में आने की कामना, नैतिक धुरी हीनता, उन्मुक्त यौनाचार, आदिम यौन सम्बन्धों की ओर पुनः प्रत्यावर्तन।”² इन समस्त आधारों पर स्त्री आज नये तौर तरीके से सामने आती दिखाई पड़ रही है, और उसके यही तौर-तरीके साहित्य में विमर्श का आधार बन रहे हैं। नाटकों में तो यह विमर्श बड़े लम्बे समय से चलता चला आ रहा है। आरम्भ से ही हमारे यहाँ पुरुष प्रधान व्यवस्था होने के बाद भी जहाँ तक भारतीय सभ्यता, संस्कृति, चिंतन और साहित्य का प्रश्न है, वहाँ नारी सदा ही पुरुष के समकक्ष और कभी-कभी आगे भी खड़ी दिखाई देती है।

स्वतन्त्रता के बाद लक्ष्मी नारायण लाल का ‘रक्तकमल’, ‘अन्धाकुँआ’, ‘मादाकैक्टस’, ‘व्यक्तिगत’, ‘दर्पण’, ‘कफरू’, ‘अब्दुल्ला दीवाना’, ‘भीष्म साहनी के माधवी’ तथा सुरेन्द्र वर्मा के ‘द्रौपदी’ जैसे नाटकों के नाम इस सन्दर्भ में लिये जा सकते हैं। ‘अन्धाकुँआँ’ ग्रामीण परिवेश के मध्य नारी के आँसुओं की कहानी है, जो बलात् जीवन सूत्रों में बाँधने पर नारकीय जीवन व्यतीत कर रही है। डॉ० लाल स्वयं इस सम्बन्ध में लिखते हैं – “यह कुँआँ प्रतीक है, उस विवेकहीन अंध व्यक्ति और समाज का जो नारी को एक जड़ वस्तु से अधिक सम्मान नहीं देता और यह बहुत बड़ी विडम्बना है नारी-नियति की, कि वह घूम-फिर कर बार-बार इसी कुँएँ में गिरती है, निकलती

है, फिर गिरती है और अन्त में इसी को आत्मसात् कर इसी में अपनी आहुति दे देती है।³ इस नाटक में स्त्री का संघर्ष तो है पर संघर्ष उस अन्धे कुँ से निकलने के लिए नहीं है, वरन् उसमें अपने को बनाये रखने के लिए है। किन्तु 'मादा कैक्टस' की मीनाक्षी अपनी स्थिति से संतुष्ट न होने पर उसका विरोध करती है। अरविन्द मीनाक्षी से प्रेम करता है और उसको अपनी कला की प्रेरणा मानता है, परन्तु वह शादी की जिम्मेदारी से बचना चाहता है। वह कायर और स्वार्थी है। मीनाक्षी उसके झूठ को पहचान लेती है, वह अपने प्रेमी अरविन्द की तुलना चमगादड़ से करती है जो जीवन की सच्चाई दिन के उजाले में नहीं देख पाता। 'व्यक्तिगत' नाटक में डॉ० लाल ने 'मैं' और 'वह' के माध्यम से पुरुष और स्त्री के सम्बन्धों को दर्शाया है – 'वह' स्त्री है, जिसके अपने पति 'मैं' से विचार मेल न खाते हुए भी वह उसके साथ ही रहती है, पर पति के प्रति उसके मन में तीव्र विरोध है – "सब कुछ यहाँ तुम्हारी ही इच्छा है। तुम्हारा ही स्वार्थ ! तुम कब क्या कर डालो कब किस वक्त मुझसे क्या माँग बैठो किस वक्त क्या बन जाना पड़े।"⁴

आजादी के बाद साहित्य में स्त्री की जो छवि उभर कर आयी, वो अधिक सक्रिय, सशक्त थी तथा उसके चरित्र में कुछ बुनियादी परिवर्तन भी देखने लगे थे। अब स्त्री पुरुष की आलोचना ही नहीं करती, वरन् पुरुष दंभ को चुनौती देकर पराजित भी करती है। यही स्थिति विष्णु प्रभाकर के मनोवैज्ञानिक नाटक 'डॉक्टर' में, प्रतिशोध के रूप में मधुलक्ष्मी के डॉ० अनीता बनने में देखी जा सकती है। लेकिन हिन्दी नाटकों में स्त्री छवि के बदलाव की कहानी कभी भी सिलसिले वार नहीं रही। लगभग इसी दौर में मोहन राकेश का प्रसिद्ध नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' भी प्रकाशित हुआ जहाँ मल्लिका के रूप में नारी फिर पुरानी नारी के रूप में लौटती हुई निष्ठावान, भावुक और त्याग की प्रतिमूर्ति लगी, जबकि समर्पण और सहनशीलता से युक्त आदर्शनारी से भिन्न 'लहरों के राजहंस' की सुन्दरी आत्मविश्वास से भरी दिखायी पड़ती है, जो अपने अहंकार और अधिकार से नन्द को बाँधे रखना चाहती है। इसीलिए वह यशोधरा पर व्यंग्य करती है, – "देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बाँध सकता, तो क्या आज भी वे राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते।"⁵ अन्त में नन्द के केश कटे हुए रूप को देखकर वह इसी कारण छटपटाती है क्योंकि ये

उसको अपनी पराजय अनुभव होती है। यहाँ वो दुर्बल नजर आती है। इसके विपरीत 'आधे-अधूरे' की सावित्री एक जुझारू और आधुनिक स्त्री है, वह नई स्त्री की भंगिमा में है। वह अपने पति, जो निठल्ला है, को ही नहीं संभालती, वरन् पूरे घर को अकेले दम पर चलाने का हौसला भी रखती है। सावित्री आधुनिक है। उसके पुरुष मित्र भी है, फिर भी वह पत्नी और माँ के घेरे से बाहर नहीं आ पाती। ऐसा नहीं है कि वह प्रयास नहीं करती। परन्तु प्रयास करने के बाद भी वह लौट कर उसी पारिवारिक बन्धन में आ जाती है। जयदेव तनेजा इस विषय में लिखते हैं – "मोहन राकेश के जीवन, परिवेश और सोच की यह एक बड़ी सीमा थी कि वह पति-पत्नी के एक दूसरे से अलग और घर से बाहर स्वतंत्र रहने की कल्पना ही नहीं कर सकते थे।"⁶

इस नाटक के बाद लम्बे समय तक हिन्दी नाटकों में स्त्री छवि में कोई महत्वपूर्ण बदलाव नहीं दिखाई पड़ा, परन्तु इतना अवश्य हुआ कि नाटक में अब स्त्री चित्रण के साथ प्रेम और सैक्स जुड़ गया। यह परिवर्तन सुरेन्द्र वर्मा तथा रमेश बख्शी के नाटकों में स्पष्ट दीख पड़ता है। 'द्रौपदी' नाटक से सुरेन्द्र वर्मा ने महाभारत कालीन मिथक के माध्यम से एक आधुनिक स्त्री को चित्रित किया है। द्रौपदी के पाँच पति थे, परन्तु यहाँ सुरेखा को अपना पति मनमोहन पाँच खण्डों में विभाजित दिखाई देता है। वह एक तरह से एक पुरुष में पाँच पुरुषों को तलाश रही है। 'सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक' में सुरेन्द्र वर्मा ने एक ऐसी स्त्री की छवि को सामने रखा है, जो पुरानी सारी वर्जनाओं को नकारती है। नाटक में स्त्री को वंश चलाने की वस्तु मानकर पर पुरुष से एक रात के सहवास के लिये विवश करते हुए दिखाया गया है, किन्तु नियोग द्वारा संभोग करने पर शीलवती एक नई धारणा की प्रतीति करवाती है कि नारी का वास्तविक सुख मातृत्व में नहीं, बल्कि सहवास में है। शीलवती अपने पति से जो कहती है, वह एक आधुनिक स्त्री की छवि को हमारे सामने रखता है – "और तुम कितने परमार्थी हो, जो बिना सामर्थ्य के ब्याह के जैसा जघन्य पाप कर सकते हो ? राज वैद्य ने कहा था कि जब कामना की पूरी ऊष्मा के साथ पत्नी तुम्हारा आह्वान करेगी, तो उस मनोवैज्ञानिक क्षण में अपने आप ... यानी मैं तुम्हारे लिये जड़ी बूटी थी ? केवल एक उपचार ? तुमने यह नहीं सोचा कि अगर यह चिकित्सा बेकार गयी,

तो इस जीवंत औषधि पर क्या बीतेगी।⁷ शीलवती एक बहुत ही अलग विचार रखती है। उसका मानना है कि जीवन जब व्यक्तिगत सुख की खोज में दौड़ता है तो जीवन बहुत जटिल होता है – “जब आत्मसंतोष की अंधी दौड़ हो – व्यक्तिगत सुख की खोज.... तो जीवन बहुत जटिल होता है, ओक्काक और उसकी माँगे भी उतनी ही उलझी हुई पूर्ति के लिये एक से अधिक व्यक्ति चाहिए किसी से समाज में एक स्थान, किसी से भौतिक सुविधाएँ, किसी से भावना की तृप्ति ... किसी से शरीर का सुख।⁸”

रमेश बख्शी के नाटक “देवयानी का कहना है” स्त्री के बोल्ट रूप को दिखाया गया है। शीलवती की तरह देवयानी भी सबके सामने निःसंकोच भाव से घोषणा करती है कि – “वन एपल इज नॉट एनफ फॉर होल ऑफ द लाईफ, टेस्ट मोर।” वह विवाह करने की अवश्य सोचती है क्योंकि ‘अविवाहित बिस्तरबाजी में खर्च ज्यादा है, डर ज्यादा है।’ देवयानी साधन के साथ एक कमरे में रहने का निर्णय लेती है। साधन और देवयानी अपने परिचितों से कहते हैं कि वे शादी कर चुके हैं। परन्तु तीसरे दिन ही विवाह के लिये दिया जाने वाला ‘रिसेप्शन’, उनका ‘फैयरवैल’ बन जाता है। अपने असुविधा पूर्ण सम्बन्ध को तोड़ने में देवयानी तनिक भी हिचकिचाती नहीं है। जयदेव तनेजा देवयानी जैसे स्त्री-चरित्रों को आज के समाज में असामान्य या अपवाद नहीं मानते हैं। वे कहते हैं – “यह कहना तो शायद – सही नहीं होगा कि आज के भारतीय समाज में देवयानी कोई अपवाद या असामान्य चरित्र है। प्रेम और परिवार की जगह अब वैयक्तिकता, महत्वाकाँक्षा और करियर अधिक महत्वपूर्ण होता जा रहा है।⁹”

लगातार समाज के सभ्य, शिक्षित और संस्कारित होने के बाद भी आज के समय में स्त्रियों को लेकर बहुत सुखद परिवर्तन देखने को नहीं मिल रहे हैं। नारीवादी सोच के पक्षधर अभी भी स्त्री के लिये विवाह व्यवस्था से परे स्त्री जीवन के लिये कोई अन्य सुरक्षित मार्ग तलाशने में असमर्थ दिख रहे हैं। सुरेन्द्र वर्मा के ‘शकुन्तला की अंगूठी’ नाटक में भी शकुन्तला का अभिनय करने वाली अभिनेत्री कनक अपने प्रेमी कुमार, जो नाटक में दुष्यन्त की भूमिका कर रहा है, से धोखा खाने पर उससे अपना सम्बन्ध तोड़ देती है और दूसरे निम्न जाति के कलाकार सुदर्शन के

साथ विवाह करने को तैयार हो जाती है, लेकिन विवाह परम्परा से बाहर वह कोई रास्ता अपने लिये नहीं खोजती।

कभी-कभी यह भी प्रतीत होता है कि स्त्री सदियों के दमन, शोषण और अनाचार के खिलाफ लड़ाई में अपने मूल्य, नैतिकता और पूरी सामाजिक व्यवस्था को नष्ट कर देने पर अमादा है। आज के नाटकों में स्त्री छवि पर एक गहरी, गंभीर दृष्टि डालने पर लगता है कि आज स्त्री एक अतिवाद को छोड़ने के लिये जाने-अनजाने एक दूसरे प्रकार के अतिवाद की ओर जा रही है या फिर वह आधुनिकता और परम्परा के झूले में झूल रही है। ऐसा प्रतीत होता है कहीं स्त्री का प्रकृतिक स्वभाव उसे, उस रास्ते पर जाने से रोकता है, जो सदैव पुरुषों द्वारा अपनाया गया है, क्योंकि उसका सौन्दर्य स्त्री बने रहने में ही है, पुरुष बनने में नहीं। त्रिपुरारी शर्मा के नाटक 'सन्-सत्तावन का किस्सा : अजीजुन निसा' में लेखिका ने ऐसी तवायफ को चित्रित किया है जो अपना कोठा छोड़कर सिपाही बन कर स्वतन्त्रता की लड़ाई के मैदान में कूद पड़ती है। वह पूरी सिपाही बनने का प्रयास करती है, पर अन्त में पराजित होने पर वह केवल इसलिये छोड़ दी जाती है कि वह पुरुष नहीं, एक स्त्री है। यह कहानी एक बड़ा प्रश्न छोड़ती है कि एक स्त्री को अपने को साबित करने का लिये पुरुष जैसा बनना, क्यों जरूरी है ?

यही एक ज्वलन्त प्रश्न है, जो आज के नाटकों में स्त्री-चरित्रों की वैविध्य पूर्ण छवि को देख कर मन-मस्तिष्क में उभरता है।

1. मीडिया और रंगकर्म, जयदेव तनेजा, पृ0 68
2. भारतीय रंगमंच शास्त्र एवं आधुनिक रंगमंच, डॉ0 कैलाश चन्द्र शर्मा, पृ0 68
3. लक्ष्मी नारायण लाल का नाट्य साहित्य : सामाजिक दृष्टि, डॉ0 करुणा शर्मा पृ0 68
4. 'व्यक्तिगत' डॉ0 लक्ष्मी नारायण लाल, पृ0 40
5. लहरों के राजहंस, मोहन राकेश पृ0 56
6. रंगकर्म और मीडिया, जयदेव तनेजा, पृ0 71
7. सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक – सुरेन्द्र वर्मा
8. सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक – सुरेन्द्र वर्मा
9. रंगकर्म और मीडिया, जयदेव तनेजा, पृ0 73